नवंबर १९९८ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

आत्म कथन

अहो धर्मबंधु!

"आश्चर्य है!"

अपनी सहज स्वाभाविक बहुत धीमी फुसफुसातीआवाज में डॉक्टरजी ने फिर दुहराया "अत्यंत आश्चर्य है! मेरे देखते-देखते न जाने कितने लोग मृत्यु को प्राप्त हुए परंतु ऐसी मृत्यु मैंने आज तक नहीं देखी।"

डॉक्टरजी जिस विस्मयजनक मृत्यु की बात कह रहे थे वह मेरी मां रामी देवी की थी जिसने मुझे राधेश्याम के जन्म के पूर्व गोद लिया था। सचमुच उसकी व्याधि और उसकी मृत्यु दोनों ही विस्मयजनक थी। ७८ वर्ष की अवस्था में मृत्यु के लगभग पंद्रह दिन पहले उसने बातचीत के दौरान यह कह दिया कि उसे पेट की पीड़ा निरंतर बनी रहती है। वह इस पीड़ा को कई महीनों से समतापूर्वक झेल रही थी। समता तो अब भी थी परंतु किसी प्रसंगवस उसने देवी इलायची को यह तथ्य बता दिया। मैंने तुरंत डॉक्टर ओमप्रकाशजी को बुलाया जो कि हमारे परिवार के चिकित्सक ही नहीं बल्कि मेरे घनिष्ठ मित्र होने के कारण अग्रज स्वरूप परिवार के अभिन्न अंग हो गये थे। उन्होंने मां की जांच की और फिर मुझे एक ओर ले जाकर कहा कि संभवतः उसके लीवर में कैंसर है। यद्यपि सारे लक्षण स्पष्ट हैं फिर भी कैंसर न होने का एक ही कारण दीखता है और वह यह कि कैंसर की पीड़ा बड़ी असह्य होती है और पीड़ा के मारे रोगी सतत व्याकुल रहता है, कराहता रहता है, क्रंदन करता रहता है। यह कभी नहीं होता कि जिसे कैंसर की पीड़ा हो, उसने महीनों तक इसे भोगते हुए भी इस विषय में कभी किसी से कुछ नहीं कहा। और अब भी यह इतनी शांत है। अतः मुझे और जांच करनी होगी। दो दिन बाद डॉक्टरजी अपने साथ उन दिनों के रंगून के अत्यंत प्रसिद्ध डॉ. कर्नल मिन सैं को साथ ले आए। उसने भी अपनी ओर से जांच की और उसने भी यही कहा कि सारे लक्षण बढ़ी हुई कैंसर के हैं परंतु रोगिणी इतनी शांत है, व्याकुलताविहीन है तो यह मानने को जी नहीं चाहता कि कैंसर की रोगिणी है। अतः कुछ एक और आवश्यक जांच करेंगे। तभी निर्णय किया जायगा।

उनके जाने के बाद देवी इलायची ने मां से पूछा कि आप को कैसी पीड़ा होती है? इस पर सब को आश्चर्यचकित करते हुए उसने बताया कि गर्भिणी नारी को जो असह्य प्रसव पीड़ा होती है उससे कई गुना अधिक पीड़ा होती है। पर रोने से क्या होगा? इसे समता से देखती रहती हूं। गुरुजी ने तो यही सिखाया है न!

मां एक अनोखी विपश्यना साधिका थी। पूज्य गुरुदेव के ध्यान केंद्र में हर महीने दस दिवसीय शिविर एक ही लगता था जो कि महीने के प्रथम शुक्रवार को आरंभ होता था। जब से उसने विपश्यना का पंथ ग्रहण किया तबसे पिछले ६-७ वर्षों में एक भी शिविर ऐसा नहीं था, जिसमें वह सम्मिलित न हुई हो। अभी-अभी वह एक महीने का एक विशिष्ट शिविर पूरा करके आयी थी। उसकी समता इतनी परिपक्व हो चुकी थी कि उसके लिए कराहने की जरा भी गुंजाइश नहीं थी।

दोनों डॉक्टरों ने कई प्रकार से जांच करके बताया कि निश्चितरूप से यह कैंसर ही है और वह भी अत्यंत बढ़ी हुई टर्मिनल स्टेज तक पहुँच चुका है। उनका निर्णय था कि अब यह चंद दिनों की ही मेहमान है। किसी प्रकार का इलाज काम नहीं आयेगा, बल्कि अधिक पीड़ाजनक होगा। फिर भी डॉक्टर अपनी ओर से ऊपरी-ऊपरी इलाज करते रहे।

मृत्यु की रात तीन बजे उसने रात की नर्स को बताया कि अब उसका समय समीप आ गया है बच्चों को जगा दो। हम सब उठ कर उसके कक्ष में गये। मैंने तुरंत डॉक्टरजी को फोन किया। वे उस रात सो नहीं पाए थे। दो घंटे पहले ही किसी मरणासन्न रोगी को देखने गये थे। तो भी मेरे बुलाने पर तुरंत चले आए।

उन्होंने देखा कि नब्ज जा चुकी है। मां चंद मिनटों की ही मेहमान है। मैंने पूज्य गुरुदेव को भी फोन कर दिया था और सौभाग्य मां सयामा के साथ वे भी आ गये थे। मृत्यु के कुछ समय पहले रोगिणी मां ने मुझसे कहा कि मैं बैठना चाहती हूं। डॉक्टरजी ने मना किया और कहा लेटे रहना ही अच्छा है। बैठने से पीड़ा बढ़ जायगी। परंतु उसने फिर आग्रह किया और मैंने उसकी यह अंतिम इच्छा समझ कर पीठ और गर्दन को जरा-सा सहारा दिया और हम सब यह देख कर चकित रह गये कि वह स्वयं बलपूर्वक पाल्थी मार कर बैठ गयी और ध्यान में लग गयी। सचमुच यह आश्चर्यजनक धर्मबल ही था। कुछ मिनटों पहले तो उसकी नब्ज ही चली गयी थी और अब वह पाल्थी मार कर ध्यान करने लगी है। मैंने उसे ध्यान में अधिक उत्साहित करने के लिए कहा, "ताई मां, 'अनैस्सा अनैस्सा' (अनिच्च शब्द का बर्मी उच्चारण)"। उसने अपना दाहिना हाथ उठाया और सिर के सिरे को छूते हुए कहा, 'हां बेटा, अनैस्सा अनैस्सा।' यह कहते हुए उसने हाथ नीचा कर लिया। फिर मेरी ओर देखा, डॉक्टरजी को देखा, गुरुदेव तथा मां सयामा की ओर देखा और फिर ऊपर की ओर आंखें उठा कर न जाने क्या देखा और उसी क्षण सहजभाव से अंतिम सांस छोड़ दिया।

ऐसी मृत्यु देख कर ही डॉक्टरजी आश्चर्यचकित हुए थे। यह लगभग प्रातः ४:२० का समय था। मां के शव को बिस्तर से उठा कर फर्श पर लिटा दिया गया। दाहक्रिया के लिए समय की प्रतीक्षा करनी होगी। आठ-साढ़े आठ बजे तक रंगून में बसे हुए संबंधी तथा समाज के अन्य मित्र बंधु आ जायेंगे। तब तक हम सब समीप के हॉल में बैठे रहे। डॉक्टरजी भी साथ थे। देर तक हम इस अलौकिक मृत्यु की चर्चा करते रहे। ८:३० बजने को आए। लोग एकत्र हो चुके थे। अब शव को श्मशान ले जाना था। उसे अरथी पर लेटाने के पहले देवी इलायची शव को नहलाने और नए वस्त्र पहनाने के लिए मां के शयनकक्ष में गयी लेकिन उलटे पांव तुरंत लौट आयी। हम सब को चकित करते हुए उसने कहा कि मां तो जीवित है। डॉक्टरजी ने कहा यह कैसे हो सकता है? पर उसने बताया कि मां का सारा शरीर एकदम मुलायम ही नहीं बल्कि गर्म भी है। मुर्दे का शरीर ऐसा नहीं होता। हम सब डॉक्टरजी के साथ मां के कक्ष में गये। डॉक्टरजी ने शव की भली प्रकार परीक्षा की और कहा यह स्पष्ट सत्य है कि मां नहीं रही, पर यह भी आश्चर्यजनक सत्य है कि

सारे शरीर में उष्णता व्याप्त है। चेहरे पर अपूर्व शांति है और वह किसी दिव्य प्रकाश से प्रदीप्त है। लगता है गहरी नींद में सोयी है। और इसी पर उन्होंने कहा था –'अत्यंत आश्चर्य है।' मृत्यु हो गयी इसमें कोई संदेह नहीं। परंतु यह क्या करिश्मा है? कुछ कह नहीं सकता।

दाहकर्म पूरा करके घर लौटे। घर में सभी विपश्यी थे अतः कोई रोया नहीं। धर्ममय वातावरण बना रहे, इसलिए अधिक समय ध्यान में ही बिताया। सायंकाल ६ से ७ बजे तक नगर के सभी भारतीय विपश्यी एकत्र हुए और एक घंटे की सामूहिक साधना हुई। उस समय गुरुजी और मां सयामा भी उपस्थित थी। इसके बाद समाज के और लोग जो विपश्यी नहीं थे वे भी आए और मैंने पूज्य गुरुदेव की आज्ञा लेकर घंटे भर धर्म प्रवचन दिया। प्रवचन के तुरंत बाद डॉक्टरजी मेरे पास आए और कहने लगे कि अब तो मुझे भी शिविर में बैठना है। बताओ अगला शिविर कब लग रहा है। अगला शिविर लगभग पन्द्रह दिन बाद लगने वाला था। मैंने आश्वासन दिया कि मैं उन्हें समय रहते सूचित कर दूंगा।

दूसरे दिन भी इसी प्रकार सायंकालीन धर्मचर्चा हुई। पूरी होने पर डॉक्टरजी फिर मेरे पास आए और कहने लगे कि अगला शिविर कई दिनों बाद लगेगा, मैं तो शीघ्र ही शिविर में बैठना चाहता हूं। गुरुदेव समीप खड़े थे। उन्होंने डॉक्टरजी में तीव्र धर्मसंवेग जागा देख कर तुरंत शिविर लगाने की स्वीकृति दे दी। हम चकित थे कि केवल एक व्यक्ति के लिए गुरुदेव कैसे शिविर लगायेंगे। परंतु उन्होंने दूसरे दिन सुबह डॉक्टरजी को लेकर ध्यानकेंद्र चले आने का मुझे आदेश दिया।

दूसरे दिन सुबह डॉक्टरजी केंद्र पर स्वयं पहुँच गये। मैं भी समय पर पहुँच गया। उन्हें आनापान देकर मैं घर लौट आया। गुरुदेव अपने कार्यालय चले गये। सदा की भांति वे शाम को केंद्र पर गये और तत्पश्चात सामूहिक साधना के लिए हमारे घर आए। धर्मचर्चा पूरी होने पर गुरुजी ने कहा कि डॉक्टर की प्रगति बहुत अच्छी है। मुझे यह देख कर अत्यंत संतुष्टि हुई है।

दूसरे दिन सुबह केंद्र से उनका फोन आया कि तुम्हारा मित्र तो बहुत पारमी संपन्न है। एक दिन की आनापान पूरी करते ही वह विपश्यना के लायक हो गया। तुम तुरंत चले आओ, इसे अभी विपश्यना देनी होगी। मैं केंद्र पहुँचा। डॉक्टरजी को विपश्यना दी गयी और तदनंतर मैं घर लौट आया। सायंकालीन ध्यान और धर्मचर्चा में गुरुजी फिर पधारे। उनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं था। वे कह रहे थे कि एक ही दिन की विपश्यना में डॉक्टर ने भंग की अवस्था प्राप्त कर ली है और अब भवंग पर काम कर रहा है।

अगले दिन सुबह ही फिर उनका फोन आया। उन्होंने कहा, तुरंत चले आओ। तुम्हारे मित्र की प्रगति बहुत अपूर्व है। लगता है अनेक जन्मों की प्रभूत पारमी लिए हुए है। वह निर्वाणिक अवस्था के समीप पहुँच गया है। उसे अभी आवश्यक निर्देश देने होंगे। मैं अत्यंत प्रसन्नता से अभिभूत और विस्मय-विभोर होकर केंद्र पहुँचा। गुरुजी के समीप बैठा। डॉक्टरजी को आवश्यक निर्देश दिये गये और यह देख कर मेरी प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं रही कि निर्देश पाते ही डॉक्टरजी की इंद्रियातीत निर्वाणिक अवस्था में डुबकी लगी। पहली ही डुबकी दस मिनट की रही। गुरुजी भी प्रसन्न थे। जांच कर देखा, सारे लक्षण निर्वाणिक अवस्था के ही थे। मेरी प्रसन्नता का क्या ठिकाना। मेरे अभिन्न मित्र मुक्ति के स्रोत में पड़े, स्रोतापन्न हुए, आर्य हुए।

वैसे लौकिक भाषा में तो वे आर्य ही कहे जा सकते थे। गोरा-चिट्टा लंबा शरीर, बड़ी-बड़ी आंखें, लंबा नाक, इसके अतिरिक्त रंगून के आर्यसमाज के ही नहीं बल्कि अखिल ब्रह्मदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा के भी अध्यक्ष। इस कारण तो आर्य कहलाते ही थे। लेकिन अब वास्तविक रूप से आर्य हुए, स्रोतापन्न हुए।

***

डॉ. ओम प्रकाशजी से मेरा पहला संपर्क द्वितीय महायुद्ध के बाद १९४७ में रंगून की किसी एक सार्वजनीन सभा में हुआ। पहली मुलाकात में ही दोनों एक-दूसरे के प्रति अत्यंत आकर्षित हुए। सार्वजनीन क्षेत्र में सौभाग्य से मुझे जितने संगी साथी मिले वे सभी सज्जन थे और सब के साथ घनिष्ठ स्नेह संबंध था। परंतु उन सब में डॉक्टरजी सर्वोपरि थे। अनेक क्षेत्रों में हम दोनों साथ मिल जुल कर काम करते थे। युद्धेत्तर काल में अखिल ब्रह्मदेशीय हिंदी साहित्य सम्मेलन की पुनर्स्थापना की। देश भर में अनेक स्थानों पर इसकी शाखाएं खोली गयीं। रंगून में साप्ताहिक साहित्य गोष्ठी का आयोजन करते रहे। हिंदी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा, मध्यमा और उत्तमा तक की पढ़ाई के लिए हिंदी विद्यापीठ की स्थापना की गयी, जिसमें अनेक छात्र भाग लेते रहे। बर्मी और हिंदी साहित्य के पारस्परिक आदान-प्रदान में भी पर्याप्त काम हुआ। हिंदी की पाठ्य पुस्तकें लिखी गयीं और प्रकाशित की गयीं। 'बर्मा-भारतीय कला केंद्र' की स्थापना हुई जिसके माध्यम से अनेक सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन होता रहा। दोनों ने मिल कर 'लाठिया सेवाश्रम' (अनाथालय) की स्थापना की और उसके समुचित प्रबंध का भार संभाला। इस प्रकार के अनेक सार्वजनिक सेवाकार्यों में साथ रहते हुए अब यह ऐसा अवसर आया कि विपश्यना के क्षेत्र में भी जुड़ गये।

मेरे माइग्रेन के सिर-दर्द का इलाज भी डॉक्टरजी ही कर रहे थे। जब कोई अन्य औषधि काम नहीं कर पायी तो माइग्रेन आने पर मोर्फिया इंजेक्सन देने लगे। परंतु वे स्वयं इस बात से चिंतित थे कि कहीं मुझे मोर्फिया का व्यसन न लग जाय। इस चिंता के मारे उन्होंने ही मुझे प्रेरणा दी कि एक बार अपने इलाज के लिए मैं विदेश जाऊं। माइग्रेन का भले कोई इलाज न हो, पर मोर्फिया से छुटकारा मिल जायगा। वहां कोई अन्य प्रभावी पेन-किलर अवश्य मिल जायगा। उनके इस सुझाव का ही परिणाम था कि मैंने अपने इलाज के लिए कई देशों की यात्रा की और निराश होकर लौटा। वे भी चिंतित हुए। उसके बाद ही मैं विपश्यना शिविर में सम्मिलित होकर रोगमुक्त हुआ। यह देख कर वे बहुत प्रसन्न हुए थे।

लेकिन जब मैं बार-बार शिविरों में जाने लगा और नित्य विपश्यना साधना करने लगा तथा प्रति रविवार साप्ताहिक सामूहिक साधना के लिए विपश्यना केंद्र जाने लगा तो उनके मन में एक चिंता जागी कि मैं कहीं बौद्ध न बन जाऊं, नास्तिक न बन जाऊं। इसीलिए कई बार बड़े प्यार से उन्होंने मुझे रोकने की भी कोशिश की। मैं उन्हें बार-बार समझाता रहा कि मेरे मन पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव होने के कारण मैं किसी अंधविश्वास में नहीं डूब गया हूं। स्वानुभव पर आधारित नितांत निष्पक्ष भाव से जांच कर के देखा है और बुद्ध तथा उनकी शिक्षा को सर्वथा निर्दोष पाया है।

अनेक सदियों से हमारे मानस पर जो भ्रामक लेप लगाया गया है, इसी कारण हम भगवान बुद्ध की निष्कलंक शिक्षा से दूर रहते आये हैं। मैं स्वयं इस मिथ्या प्रचार का शिकार था। परंतु अब मेरा अनुभव है कि इसमें कहीं रंचमात्र भी दोष नहीं है। भारत की यह शुद्ध अनमोल विद्या अपने देश से कैसे लुप्त हुई यही एक आश्चर्य का विषय है। मैं नहीं जानता कि मेरे कहने का उन पर कितना असर हुआ। लेकिन उपरोक्त घटना के बाद उनके भीतर की असीम पारमी जागी और वे सदा के लिए इस विद्या से जुड़ गये।

मैं १९६९ में भारत आया। विपश्यना के शिविर लगने लगे। परंतु वे वर्षों तक बर्मा में ही जमे रहे। वहां की कुछ एक अत्यंत अप्रिय स्थितियों में से गुजरने पर भी उनके मन में कटुता नहीं आयी। सत्ता के नशे में उन्मत्त अधिकारियों के दुर्व्यवहार की सूचना देश के अधिपति जैनरल नेविन तक को नहीं भेजी, जो कि कॉलेज की पढ़ाई के दिनों उनका सहपाठी रहा। पूर्ण मैत्री और समता बनी रही। विपश्यना उनके जीवन का सबल संबल था। वैसे भी वे पहले से शांत स्थिर स्वभाव के थे। अब विपश्यना ने इस क्षेत्र में उन्हें और अधिक सबल बना दिया। कुछ वर्षों बाद जब वे भारत आए तो यहां भी विपश्यना के कार्य में जुट गए।

वैसे बर्मा रहते हुए वहां के शीर्षस्थ डॉक्टरों में से एक होते हुए भी वे अपने सहज स्वभाव के कारण सेवाभाव से ही चिकित्सा करते थे। उनकी कोई निश्चित फीस नहीं होती थी। रोगी स्वस्थ होने पर जितना दे जाय वही उन्हें सहर्ष स्वीकार्य था। अनेक गरीब लोगों से तो कुछ भी नहीं लेते थे। बल्कि किसी-किसी को अपनी ओर से दवा भी मुफ्त देते थे। यह उनकी सहज प्रकृति थी। यहां आकर जब-जब दिल्ली में रहे, वहां के आर्यसमाज की निःशुल्क चिकित्सालय में नित्य दो घंटे सेवा देते रहे और बाकी समय विपश्यना की सेवा में लगे रहे। ८७ वर्ष की उम्र में भी युवकों को लजा देने वाली कर्मठ स्फूर्ति के साथ जगह-जगह धर्मचारिका करते हुए विपश्यना के शिविर लगाते रहे। अनेक बार विदेशों में भी गये। अभी पिछले दिनों पुनः अमेरिका गये। वहां कई शिविर लगाते हुए लासएंजेलस पहुँचे। उनका आगे का कार्यक्रम था कैंसास सिटी में और फिर **धम्मकुंज** (सियाटल) और **धम्मसिरि** (डल्लास) के साधना केंद्रों में शिविर लगाना। परंतु यात्रा के दौरान उन्हें लासएंजेलस में रहते हुए ही अटैक आया। हॉस्पिटल ले गये तो वहां के डॉक्टरों को स्वयं अपनी स्थिति समझाते रहे जैसे कोई स्वस्थ व्यक्ति समझाता है और यों समझाते-समझाते संज्ञाशून्य हो गये। कुछ दिनों इसी अवस्था में अस्पताल के इंटेसिव केयर वार्ड में रहे। मैं अपनी पिछली तीन महीने की धर्मयात्रा करता हुआ सिंगापुर पहुँचा तो उनके कोमा में चले जाने की सूचना मिली। मैंने फोन से संपर्क करके उन्हें मैत्री दी, लेकिन उनका दामाद डॉ. सोनी उस समय उनके समीप था, उसने बताया कि मैत्री से शरीर पर कोई ऐसा लक्षण प्रकट नहीं हुआ, जिससे यह कहा जा सके कि मैत्री प्रभावशाली हुई। उसने कहा कि इनका ब्रेन बिल्कुल काम नहीं कर रहा है इसलिए कोई भी इंद्रिय काम नहीं कर रही। सुन कर बहुत दुखद आश्चर्य हुआ। लेकिन मृत्यु के कुछ मिनटों पहले ऐसा लगा कि उनकी श्रवणशक्ति काम कर रही है। उनके पास हमेशा दोहों और प्रवचनों के टेप लगे रहते थे। उनके पुत्र डॉ. राजीव ने बताया कि अंत समय में उन्होंने जरा आंखें खोली, उनके होठ भी कुछ हिले और यों लगा कि वे ऊपर की ओर कुछ देख रहे हैं। और फिर सांस धीमी होती गयी। एक मिनट में केवल ७ सांस। और फिर उससे भी कम होते-होते उन्होंने शांतिपूर्वक अंतिम सांस छोड़ दी। चेहरा दिव्य आभा से दीप्त हो उठा। इसका अर्थ हुआ कि सचमुच भीतर की चेतना सतत कायम थी लेकिन शरीर के अंगों को वे चाहते हुए नहीं हिला पाते थे। अंत समय में धर्मबल जागा, आंखें खुलीं, होठ हिले जो इस तथ्य के सबूत हैं कि भीतर चेतना जाग्रत थी।

***

मैं सात देशों की लंबी धर्मचारिका पूरी करके मुंबई लौटा तो देखा मेरी टेबल पर ढेर सारे काजग-पत्रों में उनका भी एक पत्र है जो कि उन्होंने २६ अगस्त को लिखा और जिसमें उन्होंने अपनी यात्रा का विवरण देते हुए लासऐंजलस तक जाने और उसके आगे के शिविरों की सूचना दी थी और मंगल मैत्री मांगी थी।

उनकी धर्मसेवा बहुत प्रभावशालिनी होती थी। अनेक विपश्यना केंद्र उनका शिविर लगवाने के लिए आतुर रहते थे। वहां भी लोग बड़ी उत्सुकता से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। परंतु उन्होंने बीच राह पर ही महाप्रयाण कर पदोन्नति प्राप्त कर ली। लोग प्रतीक्षा ही करते रह गये। मैंने पत्र पढ़ कर एक लंबी सांस ली और बरबस मुँह से निकल पड़ा –

बड़े गौर से सुन रहा था ज़माना,
तुम्हीं सो गये दास्तां कहते कहते!

***

विश्व विपश्यना परिवार दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। पर गुरुभाई कम होते जा रहे हैं। सीधे गुरुदेव से शिक्षा पाए हुए धर्मबंधु अब बचे ही कितने हैं। इस गुरुभाई ने भी –

"अंत समय तक धर्म की सेवा होती जाय" की टेक निभाई।

ऐसा धर्मबंधु पाकर मैं धन्य हुआ।

सभी विपश्यी साधकों और आचार्यों के लिए उन्होंने जो आदर्श स्थापित किया वह विपश्यना के भविष्य के लिए प्रकाशस्तंभ का काम करेगा। इस प्रेरणा से अनेकों का कल्याण होगा, अनेकों का मंगल होगा। भारत पुनः अपनी पुरातन गौरव व गरिमा प्राप्त करेगा और प्रभूत विश्व कल्याण होगा।

कल्याणमित्र,
सत्यनारायण गोयन्का

अपूर्व शीतल शांति

एक बार उत्तर भारत की धर्मचारिका करते हुए मैं दो दिन के लिए दिल्ली में डॉक्टरजी के निवास स्थान पर रुका। उन्होंने अपना शयनकक्ष हमारे लिए खाली कर दिया और स्वयं समीप के कमरे में सोने चले गये। दूसरे दिन सुबह मैं डॉक्टरजी के साथ उनके शयनकक्ष में उनकी शैय्या पर ही ध्यान करने बैठा। घंटे भर का समय पूरा होते-होते अचानक उनकी ओर से अपूर्व निर्वाणिक शीतल शांति फूटी और सारे कमरे में फैल गयी। बैठक पूरी होने पर उन्होंने विनम्रभाव से कहा कि मैं आज आप के साथ ध्यान करके धन्य हुआ। मुझे अपूर्व शीतल शांति अनुभूत हुई। मैंने कहा, "आप की आप जाने, लेकिन आप की निर्वाणिक शीतल शांति अनुभव करके मैं सचमुच धन्य हुआ!"

स. ना. गो.